पटेल - गांधी - नेहरू



वाल्मीकि रामायण
विदुर नीति
चाणक्य नीति
वैदिक गीता
क्रान्तिकारी
रामप्रसाद बिस्मिल
राजा भोज
वैदिक सम्पदा
वैदिक सम्पत्ति
कौटलीय अर्थशास्त्र
श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
सर्प विष चिकित्सा
(आयुर्वेदिक)



वाल्मीकि रामायण
विदुर नीति
चाणक्य नीति
वैदिक गीता
क्रान्तिकारी
रामप्रसाद बिस्मिल
राजा भोज
वैदिक सम्पदा
वैदिक सम्पत्ति
कौटलीय अर्थशास्त्र
श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
सर्प विष चिकित्सा
(आयुर्वेदिक)

पटेल, नेहरू और कुछ विस्मृत तथ्य

—शंकर शरण

यदि भारत के विगत सौ वर्ष के ऐतिहासिक घटनाक्रम और ठोस तथ्यों को सामने रखते हुए महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के विचारों, कार्यों की निष्पक्ष समीक्षा की जाए तो पूरी छवि उलट-पलट हो जाती है। राजनीति की गंभीर समझ, जनता की भलाई और देश-हित, इन तीनों कसौटियों पर दोनों ही बड़े कच्चे प्रतीत होंगे। यह कहना धक्का पहुँचाने वाला भले ही लगे, किंतु सामान्य अध्येता भी इसकी परख स्वयं कर सकता है। बशर्ते लंबे समय से गांधी-नेहरू की 'महानता' वाले प्रचार को थोड़ी देर के लिए छोड़कर परीक्षण करें।

यह तो बहुत लोग मानते हैं कि स्वतंत्र भारत में सरकारी भवनों, संस्थानों, सार्वजनिक स्थानों, योजनाओं आदि के अंतहीन गांधी-नेहरू नामकरण तथा साल भर किसी-न-किसी बहाने दोनों की महानता के अहर्निश प्रचार के पीछे दलीय स्वार्थ की राजनीति है। लेकिन यह कम ही लोग जानते हैं कि इसके लिए साथ-ही-साथ इतिहास, घटनाओं और तथ्यों पर कड़ी सेंसरशिप भी चलाई गई, ताकि गांधी, नेहरू, दोनों के बारे में सभी असुविधाजनक बातों को गहरे से गहरे दफनाया जा सके। लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के होते यह उद्देश्य साधने के लिए सूक्ष्म, चतुर तरीके अपनाए गए। लेकिन ऐसा निश्चित रूप से किया गया। इसके लिए मुख्यत: कम्युनिस्ट प्रचारकों और उनके तरीकों का ही सहारा लिया गया। इस पर भी ध्यान देने से कई बातें स्पष्ट होती हैं। सरदार पटेल के योगदान का अवमूल्यन, उनके विचारों का विस्मरण तथा कई बिंदुओं पर उनपर मिथ्या दोषारोपण उसी प्रवृत्ति का अंग रहा है।

इस लेख में हम कुछ ऐसे प्रसंगों, बिंदुओं को प्रकाश में ला रहे हैं, जो अभी तक प्राय: छिपे रहे हैं। जिन इतिहासकार ने इसे सामने लाने की कोशिश की, उन्हें 'सांप्रदायिक' कहकर शिक्षा और बौद्धिक जगत् से बहिष्कृत रखा गया। इस प्रकार, संबंधित तथ्यों, तर्कों को और जानने-परखने के बदले पूरे विमर्श से उनका लोप ही कर दिया गया। यहाँ उन्हीं कुछ बातों को रखा जा रहा है।

एक

पहला बिंदु वैदेशिक मामलों में नेहरू पर गांधीजी की निर्भरता है। बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया अथवा इसका महत्त्व समझा है कि इतिहास, राजनीति, विशेषकर अंतरराष्ट्रीय इतिहास व राजनीति का गांधीजी का ज्ञान नगण्य था। स्वयं गांधीजी की आत्मकथा में भी यह तथ्य और इसका स्वीकार भी देखा जा सकता है। इसका भयावह अर्थ यह है कि दूरगामी महत्त्व के अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों पर गांधी के निर्णय अज्ञान-आधारित होने से और भी हानिकारक साबित हुए। क्योंकि वैसे निर्णयों के परिणाम प्रतिकूल आने पर भी गांधी यह समझने में सर्वथा असमर्थ रहते थे कि गड़बड़ी कहाँ हुई? वह ले-देकर संबंधित व्यक्तियों की खुशामद आदि करके मामला सँभालने की कोशिश करते थे, जो पुनः वही अज्ञान प्रदर्शित करता था। खिलफत के अंतरराष्ट्रीय इस्लामी आंदोलन (सन् १९१९-२४) को कांग्रेस का सक्रिय राजनीतिक समर्थन दिलाना वैसा ही एक आत्म-घातक मामला था। अकेली एक उस गलती ने, जिसका मोतीलाल नेहरू को छोड़ तब संपूर्ण कांग्रेस नेतृत्व ने विरोध किया था, देश की राजनीति ऐसी गलत पटरी पर डाल दी, जिससे वह एक विभाजन झेलकर भी आज तक नहीं हट सकी है।

बहरहाल, सन् १९२७ में रूस में चार दिन रहकर लौटने के बाद नेहरू पूरी तरह 'अंतरराष्ट्रीयतावादी' कम्युनिस्ट बन गए। तब से विविध मामलों पर नेहरू के बयान रूसी कम्युनिस्टों के विचार, प्रचार से हू-ब-हू निर्देशित होने लगे। दुर्भाग्यवश अन्य भारतीय नेताओं ने अंतरराष्टीय घटनाओं, स्थितियों का अध्ययन, अवलोकन करना कभी जरूरी नहीं समझा था। सुभाष बाबू, डॉ. अंबेडकर जैसे कुछ अपवाद थे (वह प्रवृत्ति अभी तक झलकती है)।

उसका एक परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस अधिवेशनों में नेहरू धड़ल्ले से सोवियत-कम्युनिस्ट लाइन वाले प्रस्ताव पास करवाते रहते थे। नेहरूजी ने सन् १९३५ में कांग्रेस का एक 'विदेश विभाग' भी बनवाया, जिसमें दो पक्के कम्युनिस्टों को रखा गया—जेड.ए. अहमद और के.एम. अशरफ। यह विभाग अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर प्रस्ताव बनाता था और विदेशी सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजता था। जैसा सरदार पटेल ने और स्वयं नेहरू ने भी स्वीकार किया है कि कांग्रेस अधिवेशनों में वे प्रस्ताव बिना सोचे-समझे पास किए जाते थे, क्योंकि उन्हें 'अकेडमिक' यानी व्यवहारतः बेमतलब समझा जाता था।[१] इसलिए कोई उस पर माथापच्ची नहीं करता था। गाहे-बगाहे यदि किसी प्रस्ताव पर कोई आपत्ति या संशोधन आता भी, तो गांधीजी के बल पर नेहरू को उसे सारतः कुछ बदले बिना पास करवाने में कठिनाई नहीं होती थी। उन कागजी प्रस्तावों का उपयोग सोवियत कम्युनिज्म अपने अंतरराष्ट्रीय प्रचार के लिए करता था। साथ-ही-साथ विदेशी प्रेस में नेहरू का नाम आता रहता था। उन प्रस्तावों का हवाला

देकर प्रधानमंत्री बनने के बाद नेहरू ने अपने निजी विचारों को 'कांग्रेस की नीति' दिखाकर देश पर लागू करने का उपाय किया। पटेल के जल्द अवसान के बाद उन्हें इसमें कोई बाधा भी नहीं रह गई।

यहाँ एक बिंदु यह भी है कि जिन अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर गांधी को हिचक भी होती थी, उस पर भी वे नेहरू की जिद स्वीकार कर लेते थे। इसके दो कारण थे। एक तो नेहरू के प्रति उनकी निजी कमजोरी, जो उन्होंने स्वयं कई बार स्वीकार की। १४ जून, १९४७ को कांग्रेस महासमिति से भारत का विभाजन तक मनवाने में भी 'नेहरू प्रेम' कारण था, यह गांधी ने स्वयं बताया है।[२] यदि गांधी का स्थायी हस्तक्षेप न होता तो कांग्रेस पार्टी में पटेल या सुभाष के सामने भी नेहरू कभी किसी पद या विचार के लिए जीत नहीं सकते थे। पटेल को कम-से-कम तीन बार, वह भी गंभीर मोड़ पर, गांधी ने कांग्रेस अध्यक्ष बनने से रोका—सन् १९२९, १९३७ और १९४६। इन तीनों ही महत्त्वपूर्ण अवसरों पर नेहरू को अध्यक्ष पद पर केवल गांधी की जिद से बिठाया गया। जबकि कांग्रेस नेतृत्व भारी बहुमत से पटेल को चाहता था। गांधी ने नेहरू को जबरन आगे बढ़ाने के लिए स्वयं पटेल पर दबाव दिया कि वह पीछे हट जाएँ। अन्यथा गांधी समर्थन के बावजूद नेहरू कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में पटेल से सदैव बुरी तरह हारते। इसीलिए गांधी हर बार आदेश देकर पटेल को उम्मीदवारी अस्वीकार करने को कहते थे।

दूसरा कारण यह कि तब यूरोप में सोवियत-समर्थक वामपंथ एक सशक्त वैचारिक फैशन था। नेहरू उसी प्रभाव में कम्युनिस्ट-वामपंथी बने थे। लेकिन नेहरू की जिद स्वीकारने के पीछे गांधी की शक्तिशालियों से मधुर संबंध रखने की प्रवृत्ति भी थी। इस बिंदु पर कम लोगों का ध्यान गया है, पर यह गांधी में था। दैनंदिन मामलों से लेकर निजी, राजनीतिक, सैद्धांतिक आदि किसी भी प्रसंग पर गांधी वैसे लोगों के प्रति सदैव अधिक, बल्कि विचित्र प्रेम-प्रदर्शन तक के आदी थे, जो किसी-न-किसी रूप में शक्तिशाली एवं प्रभावशाली हों। जबकि उन्हीं बिंदुओं पर किसी सामान्य सहयोगी, यहाँ तक कि अपने भक्त अनुयायी को भी, गांधी बुरी तरह झिड़कने, डाँटने लगते थे। इस प्रवृत्ति के अनुरूप, चूँकि अंतरराष्ट्रीय पटल पर सोवियत कम्युनिज्म एक हस्ती के रूप में उभरा था, इसलिए भी गांधी किसी मामले पर आशंका होने पर भी नेहरू की मान लिया करते थे।

दो

नेहरू के कम्युनिज्म-प्रेम के कारण स्वतंत्रता से पहले भी भारत की एक बड़ी हानि हुई, जो प्रायः छिपी रही है। यह सन् १९४२ का प्रसंग है, जब ब्रिटेन से आया हुआ क्रिप्स-मिशन बिना कुछ दिए द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत का समर्थन पाने में सफल रहा।

क्रिप्स स्वयं वामपंथी थे, इसलिए उन्होंने समझने में कोई भूल नहीं की कि गांधी-समर्थित और बड़बोले नेहरू के रूप में उन्हें स्वतः ऐसा प्रचारक प्राप्त है, जो सोवियत संघ को बल पहुँचाने हेतु युद्ध में ब्रिटेन को हर तरह से समर्थन देने के लिए पहले से कटिबद्ध है। चूँकि तब तक विश्वयुद्ध में ब्रिटेन और सोवियत संघ एक तरफ आ चुके थे तथा कम्युनिस्ट फासिज्म को हराने के लिए उनकी मदद का नारा पूरी दुनिया में लगा रहे थे, इसलिए क्रिप्स ने सही अनुमान लगाया कि वे भारत को तत्काल कोई सहूलियत दिए बिना भी कांग्रेस का समर्थन पा सकते हैं। यदि नेहरू जैसे समर्पित कम्युनिस्ट कांग्रेस नेतृत्व में न होते, तो अनिवार्य था कि भारत का पूर्ण समर्थन पाने के लिए क्रिप्स-मिशन तभी कुछ राजनीतिक अधिकारों, सुधारों का प्रस्ताव करता; क्योंकि ब्रिटेन अभूतपूर्व संकट में था। इसीलिए चारों ओर से यह आशा भी थी कि क्रिप्स-मिशन भारत को कुछ देगा। किंतु ऐसा कुछ न हुआ, तो इसीलिए कि सोवियत संघ, ब्रिटेन की मदद करने को नेहरू पहले से ही बिना शर्त उत्साहित थे।

तीन

जब बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी ने २२ फरवरी, १९४९ को भारतीय सत्ता पर जबरन अधिकार करने के लिए हथियारबंद विद्रोह आरंभ किया, तो इसे खत्म करने की काररवाई गृहमंत्री सरदार पटेल ने की। जबकि प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू ने 'नरमी' दिखाने की वकालत करते हुए उलटे उस कम्युनिस्ट-षड्यंत्र को नैतिक समर्थन देने का प्रयास किया था, यह सब कहकर कि असली समस्या तो साम्राज्यवाद, आर्थिक शोषण है, आदि। यहाँ तक कि दूर लंदन में भारत के राजदूत कृष्ण मेनन ने इस मुद्दे पर गृह मंत्री पटेल के विरुद्ध भंगिमा लेकर, एक तरह से भारत सरकार के विरुद्ध कम्युनिस्टों की मदद करने की कोशिश की। इसमें मेनन को नेहरू का समर्थन हासिल था। यह तब की और बाद की घटनाओं, दोनों से प्रमाणित होता है। प्रथम, सशस्त्र विद्रोह कर भारतीय सत्ता पर कब्जे की कोशिश करनेवाले कम्युनिस्टों का बचाव करनेवाले राजदूत को बरखास्त नहीं किया गया। दूसरे, जैसे ही पटेल का देहांत हुआ, नेहरू ने न केवल गिरफ्तार कम्युनिस्ट नेताओं को जेल से रिहा किया, बल्कि विविध बयानों और काररवाइयों से उनकी सम्माननीय छवि बनाई।

इस प्रकार यह तथ्य सामने आता है कि सन् १९४९ में कम्युनिस्ट षड्यंत्र को ध्वस्त करने का कार्य पटेल ने किया। दूसरे, नेहरू भी देश में कम्युनिस्ट सत्ता ही बनाने के इच्छुक थे। अन्यथा इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती कि नेहरू सरकार के विरुद्ध तख्तापलट करनेवाले कम्युनिस्टों के प्रति नेहरू ने वैसा नरम, समर्थक रुख क्यों लिया? अतः यदि तब पटेल न रहे होते तो पूरे भारत में कम्युनिस्ट सत्ता बनती या नहीं, किंतु

नेहरू ने भारत को लाओस, कोरिया, वियतनाम जैसे गृहयुद्ध व विखंडन की स्थिति में अवश्य पहुँचा दिया होता! जिन्हें यह बात दूर की कौड़ी लगती हो, वे कृपया तब के एशियाई इतिहास और नेहरू वाङ्मय का स्वयं तुलनात्मक अवलोकन करें।

चार

सन् १९२८ से लेकर १९६४ तक, अर्थात् जीवनपर्यंत, नेहरू पक्के कम्युनिस्ट और सोवियत-चीनी नीतियों के स्वयंसेवी प्रचारक बने रहे। इसके लिए उन्होंने भारतीय हितों की बार-बार बलि दी। इस भयावह तथ्य की पुष्टि के लिए कहीं और देखने की जरूरत नहीं, स्वयं नेहरू के विस्तृत वक्तव्यों, क्रिया-कलापों और तत्कालीन घटनाक्रम से उन्हें जोड़कर देखने भर की जरूरत है।

केवल एक उदाहरण लीजिए—सन् १९५५ में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में भारत को स्थायी सीट का प्रस्ताव दिया गया था, यानी दुनिया के सर्वोच्च पाँच वीटो-धारी देशों में एक बनने का, जिसे नेहरू ने कम्युनिस्ट चीन के प्रति अपनी एकजुटता दिखाने के लिए ठुकरा दिया। संयुक्त राष्ट्र की दसवीं वर्षगाँठ के विश्व सम्मेलन (सैन फ्रांसिस्को) से लौटकर नेहरूजी २० जुलाई, १९५५ को मुख्यमंत्रियों को पत्र में स्वयं लिखते हैं—

''अनौपचारिक रूप से ऐसा आश्वासन दिया गया कि चीन को संयुक्त राष्ट्र में ले लिया जाएगा, परंतु सुरक्षा परिषद् में नहीं। इसके बदले भारत को सुरक्षा परिषद् में आने के लिए कहा गया। हम निश्चय ही यह स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्योंकि इसका अर्थ होता कि हम चीन के साथ नहीं हैं। फिर सुरक्षा परिषद् में चीन जैसे महान् देश का न होना एक अनुचित बात भी है। इसलिए हमने स्पष्ट कर दिया कि हम इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं। हम एक कदम और आगे गए और कहा कि भारत इस क्षण सुरक्षा परिषद् में जाने के लिए इच्छुक नहीं है, चाहे एक महान् देश होने के नाते इसे उसमें होना चाहिए। पहली बात यह है कि चीन को उसका उचित स्थान मिले। तब भारत के बारे में अलग से विचार किया जा सकता है।''

यह नेहरू की कम्युनिस्ट-प्रतिबद्धता और देश-हित की खुली अवहेलना का बस एक उदाहरण था। मगर कितना भयंकर उदाहरण! जब 'महान्' कम्युनिस्ट चीन के लिए नेहरू यह त्याग कर रहे थे, उस समय तक चीन का धोखेबाज, विस्तारवादी, साम्राज्यवादी चेहरा तिब्बत के संदर्भ में सामने आ चुका था। जिस पर सरदार पटेल की विस्तृत चेतावनी भी आई थी। बल्कि उसी समय चीन हमारे लद्दाख में भी भूमि हड़पने में लगा हुआ था। जल्द ही भारतीय सैनिकों को चीन से लड़ने में अपना बलिदान देना पड़ा। केवल इस कारण, क्योंकि नेहरू ने अपनी वैचारिक झक में कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद को

पहचानने से साफ इनकार कर दिया था। नेहरू अपनी ओर से चीन को कम्युनिस्ट-भाई समझते थे, जबकि चीनी नेता माओ नेहरू को केवल एक बुर्जुआ मूर्ख समझते थे।

पाँच

वस्तुत: नेहरू अपने कम्युनिस्ट-मतवाद के प्रति इतने गंभीर थे कि सन् १९४९-५० में वे कांग्रेस छोड़कर नई पार्टी बनाने का विचार कर चुके थे। कम्युनिस्ट पार्टी के विचारों से नेहरू का कोई मतभेद न था, यह विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों, राज्यपालों को लिखे नेहरू के कई पत्रों से भी झलकता है। उसमें नेहरू कम्युनिस्टों के विरुद्ध किसी भी काररवाई का विरोध तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) के विरुद्ध काररवाई की पैरोकारी करते मिलते हैं। नेहरू की इस मानसिकता में सन् १९४९ में कम्युनिस्ट विद्रोह और हिंसा से भी अंतर नहीं पड़ा था। जबकि वे जानते थे कि यहाँ कम्युनिस्टों ने 'बड़ी संख्या में लोगों की हत्याएँ की हैं। यह ध्यान देने की बात है।'

पर गांधी के अवसान के बाद नेहरू की कांग्रेस पर कोई पकड़ नहीं रह गई थी। उस पर बहुत पहले से पटेल का पूर्ण अधिकार था, नैतिक और व्यावहारिक दोनों। इसलिए गांधी के प्रयाण के बाद नेहरू अपनी चलाने में दिनोदिन असहाय महसूस कर रहे थे। किंतु अपने कम्युनिस्ट विचारों पर उनकी अंधभक्ति ऐसी थी कि उसे देश पर थोपने के लिए कांग्रेस से अलग होकर भी अपना राजनीतिक दाँव खेलने की तैयारी कर चुके थे। सितंबर १९५० में नेहरू के उम्मीदवार जे.बी. कृपलानी कांग्रेस के अध्यक्ष पद का चुनाव बुरी तरह हार गए। तब उन्होंने विरोध में 'डेमोक्रेटिक फ्रंट' बनाया, जो नेहरूवाद की पैरोकारी करता था। उस फ्रंट में नेहरू के एक और विश्वस्त रफी अहमद किदवई सक्रिय हुए। तब स्पष्ट संकेत थे कि नेहरू कांग्रेस छोड़कर उस फ्रंट को ही विस्तार दे सकते हैं। पर देश का दुर्भाग्य! दिसंबर १९५० में सरदार पटेल का निधन हो गया। इसके फौरन बाद वह फ्रंट भंग कर दिया गया। अब नेहरू को उसकी कोई जरूरत नहीं रही, क्योंकि स्वयं कांग्रेस उनके कब्जे में आ गई। यह कुछ महीने चला 'डेमोक्रेटिक फ्रंट' नेहरू का ही आईना था।

इसे समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह तो सन् १९६२ में चीन के तमाचे ने खेल खराब कर दिया, नहीं तो नेहरू भारत को क्यूबा जैसा क्रमश: कम्युनिस्ट राष्ट्र बनाने के रास्ते पर थे। जबकि सरदार पटेल ने तिब्बत पर ही चीन की काररवाई को अत्यंत गंभीरता से लिया था और भारत पर सीधा खतरा महसूस किया था। ऐसे सभी तथ्य पटेल के देहांत के बाद लगभग गायब कर दिए गए। नेहरू-गांधी की अतिशय जयकार के पीछे छिपी मंशा यही थी कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में की गई नेहरू की सारी गलतियाँ किसी बहाने छिपी रह सकें।

छह

ऊपर तृतीय बिंदु के इस तथ्य को अलग से महत्त्व देना जरूरी है कि नेहरू ने प्रधानमंत्री होकर भी लंदन में ऐसे कम्युनिस्ट को राजदूत बनाए रखा, जिसने सन् १९४९ में कम्युनिस्ट विद्रोह के प्रसंग में उलटे भारत सरकार की नीति के विरुद्ध विचार व्यक्त किया था। मेनन के कार्यों, वक्तव्यों का अध्ययन करें तो दिखेगा कि वस्तुत: वे लंदन में भारतीय राजदूत से अधिक रूसी दूत थे। नेहरू इसे समझते थे, लेकिन उन्हें इससे कोई उज्र न था। वस्तुत: लंबे समय से मेनन के माध्यम से ही अंतरराष्ट्रीय प्रेस में नेहरू अपनी 'प्रगतिशील' और अपने देशी विरोधियों की 'प्रतिक्रियावादी' छवि छपवाते रहे थे। फिर उन प्रायोजित समाचारों, टिप्पणियों का इस्तेमाल यहाँ अंदरूनी राजनीति में करते थे कि 'देखो, वहाँ लोग क्या कह रहे हैं!' इस तरह मेनन, नेहरू के निजी एजेंट की तरह कार्य करते रहे थे। इसमें भारतीय हितों की बलि देकर या अनदेखी कर नेहरू और कम्युनिज्म का प्रचार किया जाता था।

दिसंबर १९४८ और जनवरी १९४९ के बीच गृह मंत्री पटेल के संबंध में मेनन और नेहरू में जो पत्र-व्यवहार हुआ, उससे तो दिखता है मानो नेहरू-मेनन की अपनी राजनीतिक-वैचारिक दुनिया थी, जिसमें पटेल जैसे अवांछित लोगों के साथ झूठ-सच बोलकर किसी तरह जीवन चलाना उनकी विवशता थी।[२] ऐसा था गांधी द्वारा चुना गया राजनीतिक उत्तराधिकारी, जिसे देश-हित के सिवाय हर चित्र-विचित्र विचारों, क्रिया-कलापों में पूरी रुचि और संवेदना थी।

सात

विविध स्रोतों, प्रसंगों से अब काफी लोग जानते हैं कि एडविना माउंटबेटन से नेहरू के अंतरंग संबंधों का उपयोग लॉर्ड माउंटबेटन ने सन् १९४७ में किया। उन्होंने भारत का काम जल्द 'निबटाने' के लिए भारत-बँटवारे का निश्चय किया, जो ब्रिटिश संसद् या सरकार का विचार नहीं था। मुसलिम लीग द्वारा विभाजन की माँग स्वीकार कर लेना माउंटबेटन को निजी तौर पर सुविधाजनक लगा था। लेकिन यह भारत में कम लोग जानते हैं कि एडविना सक्रिय अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट समर्थक भी थीं।

बाद में भी, स्वतंत्र भारत में अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठनों, सम्मेलनों को खुलकर काम करने देने में एडविना ने नेहरू का बार-बार उपयोग किया। यहाँ तक कि जब सन् १९४९ में यहाँ कम्युनिस्टों के सशस्त्र विद्रोह के बाद उनपर अंकुश लगा, अनेक कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार किया गया, तब एडविना को अपने पत्रों में नेहरू इसकी सफाई देते और क्षमा-याचना सी करते दिखाई पड़ते हैं। अपनी यह प्रवृत्ति नेहरू को इतनी स्वाभाविक लगती थी कि वे अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों को भी कहते थे कि

लेडी माउंटबेटन ने उनसे यह या वह शिकायत की है, इसलिए जरा ध्यान दें। ये शिकायतें प्राय: कम्युनिस्टों के प्रति पूरी उदारता बरतने और आर.एस.एस. के प्रति कठोरता बरतने का अनुरोध हुआ करती थीं।[6]

नोट करने की बात यह है कि तब इंडोचीन (बर्मा, लाओस, कंबोडिया, वियतनाम आदि) में कम्युनिस्ट-विद्रोह की घटनाएँ भारत में हुए एक 'अंतरराष्ट्रीय युवा सम्मेलन' का नतीजा भी थीं, यह स्वयं नेहरू के पत्र से झलकता है। उस जमाने की गतिविधियों का अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि तब ऐसे सम्मेलन सोवियत कम्युनिज्म की अंतरराष्ट्रीय कूटनीति का महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। वैसे सम्मेलन भारत में आयोजित करने और उसमें दूर देशों के जाने-माने कम्युनिस्टों को आने का वीसा देने के लिए एडविना नेहरू को लिखती रही थीं। यह भारतीय हितों के विरुद्ध था, मगर नेहरू यह खुशी-खुशी करते रहे। सरदार पटेल के निधन के बाद पूरी कांग्रेस सरलता से नेहरू की दास बन गई। इसमें यह दु:खद तथ्य भी छिपा है कि कम्युनिस्टों की करतूतों और नेहरू विचारों को अच्छी तरह समझनेवाले अनेक जानकार कांग्रेसी भी निजी हितों के लिए मौन हो गए। पहले वे बोलते थे, मगर पटेल के जाते ही सबने चुप्पी साध ली, ताकि पदों से छुट्टी न हो जाए। एक, मध्य प्रदेश से द्वारका प्रसाद मिश्र ने आवाज उठाई, तो उन्हें फौरन दंड मिल गया। शेष चुप रहे। यह स्वतंत्र भारत का दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि हमारे अधिकांश नेता निजी हितों को देश-हित से ऊपर रखते रहे हैं। यह अभी तक देखा जा सकता है।

हालाँकि उसमें एक तथ्य यह भी है कि कांग्रेस में स्वदेशी चिंतन और भारतीयता की भावनावाला नेतृत्व धीरे-धीरे वैचारिक रूप से दुर्बल हो गया। तिलक के निधन और श्रीअरविंद द्वारा राजनीति छोड़ देने के बाद भारतीयता की बात मुख्यत: गांधी ही करते थे। दूसरे अधिकांश पश्चिमी शिक्षा और नई-नई सोवियत कम्युनिस्ट क्रांति के कारण यूरोपीय, रेडिकल वामपंथी सम्मोहन से प्रभावित थे। लेकिन भारतीय चिंतन के अनुरूप सोचनेवाले राष्ट्रीय नेताओं से वैचारिक पक्ष पर काम करने में भारी चूक हुई। यह चूक पटेल ने भी की। जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नेहरू ने कांग्रेस के पुराने अंतरराष्ट्रीय प्रस्तावों के बल पर नीति-निर्माण को कम्युनिस्ट दिशा देने का प्रयास आरंभ किया, तो पटेल ने कहा भी कि उन्होंने कांग्रेस द्वारा पास उन विदेश-नीति संबंधी प्रस्तावों को (उपेक्षणीय मानकर) कभी पढ़ा तक न था। यह दिखाता है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति को उपेक्षित करके हुए राष्ट्रीय आंदोलन चलाना बड़ी भूल थी। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति सोवियत अनुचरी में जाने के पीछे इस भूल का भी हाथ था।

उस भूल का एक विरोधाभासी परिणाम यह भी हुआ था कि सन् १९२९ के बाद नेहरू के नेतृत्व में नई-नई फैशनेबल, हवाई, वामपंथी बातें करनेवाले नेता शिक्षित लोगों में लोकप्रिय होने लगे। जबकि संगठन पर वास्तविक पकड़वाले, शांतिपूर्वक कठिन कामों

में लगे रहनेवाले कर्मठ नेताओं की छवि चमकदार नहीं बनी। इसका मुख्य कारण था—वैचारिक कार्य को कम महत्त्व देना। श्री अरविंद राष्ट्रीय आंदोलन के आखिरी नेता थे, जिनकी छवि आकर्षक, प्रभावशाली राष्ट्रवादी विचारक नेता की थी। उनके बाद के सच्चे राष्ट्रवादी कर्मठ, निस्स्वार्थ होते हुए भी शिक्षित वर्ग को जीतने के प्रति उदासीन रह गए, जिसका लाभ वामपंथियों को मिला। उन्होंने आकर्षक मुहावरों को अपना आधार बनाया, जबकि संगठन में छल-प्रपंच से पद हथियाने की नीति रखी। नई सोवियत सत्ता से मिलने वाले भौतिक सहयोग ने भी उनकी इन प्रवृत्तियों को बल पहुँचाया। फिर भी, मगर जब तक पटेल जीवित रहे, वास्तविक नीति-निर्णयों पर वामपंथी हावी नहीं हो सके। सन् १९४९ में सशस्त्र विद्रोह कर असंख्य लोगों की जान लेनेवाले कम्युनिस्ट जेल में बंद थे। लेकिन पटेल के निधन के बाद उन्हें जेल से सादर बाहर लाया गया, इस भाव-भंगिमा के साथ मानो वे त्यागी, बलिदानी हों! इसी अंदाज में कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् १९५२ में देश का पहला आम चुनाव लड़ा, जिसमें उनकी सफलता नेहरू द्वारा दिए गए वैचारिक सम्मान के कारण ही हुई। फिर जल्द ही, सन् १९५४ में स्वयं कांग्रेस ने भी उसी 'समाजवाद' को खुलकर अपना ध्येय घोषित किया। अब पश्चिमी, नकलची और हानिकारक विचारों का प्रतिकार करनेवाला और कोई सशक्त नेता कहीं नहीं रह गया था।

यह मोटी सी, मगर बुनियादी बात जोर देकर कहनेवाला कोई नेता नहीं था कि भारत एक प्राचीन सभ्यता है, जिसका एक अपना स्वधर्म है। सामाजिक, वैयक्तिक या राष्ट्रीय विकास एवं उन्नति की अपनी समझ और मार्ग है तथा वही स्वधर्म अंतरराष्ट्रीय नीति समेत हमारी समस्त नीतियों का भी आधार है। यद्यपि श्रीअरविंद इसे अपनी निजी वार्त्ताओं में अंत तक (उनका निधन भी दिसंबर १९५० में ही हुआ था) कहते रहे, किंतु चूँकि वे राजनीति से दूर हो चुके थे, इसलिए उनकी सुननेवाला कोई न था।

नौ

पटेल के अवसान के बाद नेहरू ने कम्युनिस्ट नेताओं को ससम्मान रिहा ही नहीं किया, बल्कि उन्हें नीति-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी दी। आखिरकार दोनों उसी सोवियत-चीनी कम्युनिज्म को भारत पर लागू करना चाहते थे। यह देश की नीति ही नहीं, अंदरूनी औद्योगिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक नीतियों में भी साफ झलकना आरंभ हो गया। सरकारी और कम्युनिस्ट प्रचार, दोनों ने अपने-अपने तरीके से न केवल पटेल की छवि बिगाड़नी शुरू की, बल्कि जो गलतियाँ स्वयं नेहरू ने की थीं, उन्हें भी पटेल के मत्थे डालने का छल किया गया, जैसे कश्मीर समस्या।

अक्तूबर १९४७ में जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय हुआ था। गड़बड़ी दिसंबर १९४७ से शुरू हुई, जब उससे संबंधित कानूनी, तकनीकी व्यवस्था को नेहरू शेख

अब्दुल्ला के साथ निजी तौर पर चुपचाप स्वयं तय करने लगे। गृह मंत्री सरदार पटेल को बताया भी नहीं। नेहरू के लिए यह कार्य निर्विभागीय मंत्री गोपालस्वामी आयंगर देख रहे थे। जब इन बातों की अस्पष्ट सूचना पटेल को मिली तो उन्होंने आपत्ति की। तब नेहरू ने २३ दिसंबर, १९४७ को तैश में पटेल को एक पत्र लिखा कि नेहरू के आदेश से ही आयंगर स्वतंत्रतापूर्वक काम कर रहे हैं। इसलिए पटेल की आपत्ति अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगी आयंगर के साथ अनुचित व्यवहार है। ऐसा पत्र पाते ही उसी दिन, उसी क्षण, पटेल ने नेहरू को अपना त्यागपत्र भेज दिया। तब मामला गांधीजी के पास पहुँचा। उनके आग्रह से पटेल सरकार में तो बने रहे, मगर जम्मू-कश्मीर मामला पूरी तरह नेहरू पर छोड़ दिया गया।

तब से कश्मीर मामले में नेहरू-अब्दुल्ला-आयंगर ही सबकुछ तय करते रहे। जब जम्मू-कश्मीर से संबंधित धारा ३०६ 'ए' (जो अनंतर धारा ३७० कहलाई) कांग्रेस समिति के पास पहुँची (अक्तूबर १९४९) तो सबने तीखा विरोध किया। यह कहते हुए कि जो विधि अन्य राज्यों के लिए अपनाई गई, उससे भिन्न क्यों किया जा रहा है? उस मीटिंग के समय नेहरू विदेश में थे। आयंगर की पूरी फजीहत हुई। वस्तुत: नेहरू द्वारा अंतिम प्रारूप तैयार करवाकर विदेश जाने के बाद अब्दुल्ला ने पुन: उसमें कुछ जोड़-तोड़ करवाई थी, जो जम्मू-कश्मीर सरकार को कुछ और अधिकार देती थी। इन सब पर कांग्रेस नेताओं ने आयंगर को खूब खरी-खोटी सुनाई। तब आयंगर सरदार पटेल की शरण में पहुँचे कि किसी तरह उस धारा को स्वीकार करवाएँ।

यदि १७ अक्तूबर, १९४९ की उस मीटिंग में नेहरू मौजूद होते, तो क्या होता, अब यह अनुमान ही किया जा सकता है। पर उनकी अनुपस्थिति में पटेल ने दायित्व समझा कि उस गड़बड़ धारा से असहमति होते हुए भी उसे पास करवाएँ, क्योंकि यह कुछ महीनों के लिए ही रहनी थी। बाद में जब पटेल के सचिव एन. शंकर (आई.सी.एस.) ने पूछा कि उन्होंने उस धारा को क्यों पास करवा दिया? तब पटेल ने कहा कि वह अस्थायी ही है और अंतरराष्ट्रीय नजाकतों को देखते हुए यह किया गया (तब तक नेहरूजी मामला संयुक्त राष्ट्र भी ले जा चुके थे)। पटेल ने कहा कि वह धारा कोई बड़ी चीज नहीं। आयंगर, अब्दुल्ला आदि तो कल नहीं रहेंगे और सबकुछ भविष्य की भारतीय सत्ता की सामर्थ्य पर निर्भर करेगा। फिर भी उन्होंने जोड़ा कि इन सब ऊटपटाँग कामों के लिए 'जवाहरलाल रोएगा'। इसके एक वर्ष बाद ही पटेल का देहांत (१५ दिसंबर, १९५०) हो गया।

वस्तुत: शेख ने शुरू से ही चतुराई बरतते हुए, नेहरू के भोलेपन और अहंकार का उपयोग कर, धारा में गोल-मटोल शब्दावली डाली, फिर उसमें भी धीरे-धीरे और बदलाव करवाया, ताकि बाद में उनका कुछ का कुछ अर्थ करके अपने लिए आजादी

रखी जाए या जहाँ तक संभव हो, ताकत बढ़ाई जाए। शेख की नीयत ठीक नहीं थी, यह बाद की घटनाओं से भी पुष्ट हुआ, जब स्वयं नेहरू ने शेख को गिरफ्तार करवाया (८ अगस्त, १९५३)।

इस प्रकार पटेल का कहा हुआ जल्द ही सही साबित हो गया कि 'जवाहरलाल रोएगा'। पर जब वह समय आया, जब उस अदूरदर्शिता का कुफल दिखना शुरू हुआ, जो नेहरू ने कश्मीर के लिए अनावश्यक विशेष प्रावधान बनाकर और अंतरराष्ट्रीयकरण करके किया—तब उसी नेहरू ने क्षुद्रता दिखाते हुए सबकुछ पटेल के मत्थे डालने की कोशिश की। लोकसभा में नेहरू ने झूठा बयान दिया कि 'सरदार पटेल ही जम्मू-कश्मीर का सब काम देख रहे थे।' (लोकसभा, २४ जुलाई, १९५२)। पटेल के अवसान के बाद यह कहना कितनी घटिया राजनीति थी, इसे पूरी पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है।

सच्चाई यह थी कि यदि पटेल न रहे होते तो कश्मीर पूरी तरह पाकिस्तान के कब्जे में जा चुका होता। पाकिस्तानी आक्रमण के बाद कश्मीर में फौरन सेना भेजकर आक्रमणकारियों को खदेड़ने के निर्णय में पटेल की मुख्य भूमिका थी। जबकि अकारण मामला संयुक्त राष्ट्र ले जाकर उसका अंतरराष्ट्रीयकरण करने, आधे कश्मीर को पाकिस्तान के कब्जे में छोड़ने तथा पटेल को किनारे कर गुपचुप अब्दुल्ला के साथ जम्मू-कश्मीर के विलय की प्रक्रिया को 'विशेष' मुसलिम-परस्त रूप देने, इस प्रकार सबकुछ पूरी तरह चौपट करने और देश के लिए एक स्थायी सिरदर्द बनाने में केवल नेहरू की भूमिका थी।

इस सरल सत्य को सन् १९५२ में सभी लोग जानते थे। पर पटेल के अवसान के बाद कश्मीर संबंधी गड़बड़ी को पटेल के मत्थे मढ़ने के नेहरू के इस सफेद झूठ को सुनकर दूसरे कांग्रेसी नेता चुप रहे। इससे उस कांग्रेस-कल्चर को पहचाना जा सकता है, जिसमें गांधी-नेहरू की जय के सिवाय केवल निजी स्वार्थ ही सर्वोपरि रहा है। क्या इसमें आज भी कुछ विशेष बदला है ? यदि इसे वस्तुतः गांधी और नेहरू की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष देन न समझें, तो और किसी तरह इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि मोटे तौर पर सन् १९२० से १९७७ तक, और बाद में भी, गांधी-नेहरू के नेतृत्व और वर्चस्व में ही कांग्रेस और भारत सबकुछ करता रहा है।

दस

जो लोग कम्युनिज्म के इतिहास और मानसिकता से परिचित हैं, वे जानते हैं कि सारी दुनिया में कम्युनिस्ट सत्ताधीश अपने अनुयायियों के प्रति भी कठोर, क्रूर रहे हैं। यह उनके वैचारिक अंधविश्वास से जुड़ा है। तदनुरूप, सोवियत सत्ताधीश यह जानते हुए भी कि नेहरू उनके पक्के समर्थक हैं, समय-समय पर नेहरू के प्रति वितृष्णा प्रदर्शित करते थे। उसमें एक मुद्दा यह भी था कि नेहरू सरदार पटेल को कड़ी टक्कर देने में विफल

रहे और कांग्रेस पर पकड़ नहीं बना सके थे। साथ-साथ तब सोवियत कम्युनिस्टों की समझ थी कि भारत स्वतंत्र हुआ ही नहीं है, बल्कि अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्य का व्यवहारत: गुलाम ही है। तभी यहाँ कम्युनिस्टों ने सोवियत सलाह के अनुरूप सशस्त्र विद्रोह कर सत्ता पर कब्जे की योजना बनाई, जिसे पटेल ने खत्म किया। उसमें सोवियत कम्युनिस्टों ने नेहरू को पटेल के अपराधों में सहभागी माना।

इन सब कारणों से मास्को में भारतीय राजदूत और दूतावास की खुली हेठी की गई। स्वयं नेहरू की बहन विजयलक्ष्मी पंडित वहाँ राजदूत बनकर गई थीं, जिन्हें सोवियत सरकार के प्रमुख से मिलने तक का समय नहीं दिया गया। दूतावास को जरूरी मामूली सुविधाएँ, जैसे फर्नीचर भी खरीदकर देने से इनकार किया गया। मास्को में भारतीय दूतावास को अपनी कुरसी, टेबल भी स्वीडन जाकर खरीदनी पड़ीं। ऐसे खुले अपमानों से रंज होने के बजाय नेहरू ने यहाँ विस्तार से झूठी दलीलें देकर सोवियत संघ का महिमा-मंडन किया। जैसे इस प्रकार की दलीलें, कि रूसी लोग इतने महान् कामों में लगे हैं कि इन सब मामूली चीजों में समय नहीं बरबाद करते, कि वहाँ तो बाजार में कुछ सामान ही नहीं है, कितने कष्टों में वे नव-निर्माण कर रहे हैं, वगैरह-वगैरह। इसलिए यदि हमारे दूतावास को फर्नीचर आदि नहीं मिला तो यह कोई ध्यान भी देने की बात नहीं।[५] विजयलक्ष्मी पंडित ने मॉस्को के अपने अनुभवों और अवलोकनों से अपनी कम्युनिज्म-सहानुभूति त्याग दी, किंतु नेहरू पर कोई असर नहीं हुआ। वे हू-ब-हू वही कम्युनिस्ट प्रचार यहाँ दुहराते रहे, जो सोवियत प्रचारक प्रकाशित करते थे।

नेहरू एक तरह के कम्युनिस्ट-वैचारिक नशेड़ी थे, इस कड़वे सत्य को परखने की जरूरत है; क्योंकि केवल वैसे ही लोग सच्चाई और वास्तविकता की कितनी भी ठोकर खाकर अपनी टेक नहीं बदलते। इसीलिए सरदार पटेल के निधन के बाद नेहरू के विस्तृत वक्तव्य इसके असंदिग्ध प्रमाण हैं कि वे सोवियत कम्युनिज्म को ही भारत के लिए एकमात्र मॉडल मानते थे, और उसी की नकल में सारे नीति-निर्माण कर रहे थे। कोई छिपाकर नहीं, खुले रूप में।[६] यह अवसर उन्हें पटेल के निधन से ही मिला।

ग्यारह

ऊपर हमने उल्लेख किया है कि गांधी ने नेहरू के वामपंथी, अ-भारतीय-विरोधी विचारों और रंगीन-मिजाजी तक को जानते हुए उन्हें अपना 'उत्तराधिकारी' बनाया। जबकि ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं थी। आखिर कांग्रेस कोई गांधीजी की निजी संपत्ति नहीं थी! बल्कि उसके सांगठनिक नियम स्वयं गांधी ने बनाए थे, जिसकी खुली अवहेलना करके नेहरू के पीछे अपना बल लगाकर गांधीजी ने उन्हें देश पर प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में थोपा। जबकि कांग्रेस में हुए अंदरूनी चुनाव में वे प्रधानमंत्री पद के

लिए तीसरे नंबर पर आए थे। कांग्रेस की सबसे पहली पसंद सरदार पटेल और दूसरी आचार्य कृपलानी थे और इसके बाद नेहरू। फिर भी गांधी ने जबरदस्ती नेहरू को देश पर थोपा।

प्रश्न है—ऐसा उन्होंने क्यों किया? इसका एक उत्तर दिया जा चुका है कि नेहरू के प्रति गांधीजी में निजी कमजोरी थी। गांधी के अपने ही शब्दों में, वे 'जवाहरलाल के प्रेम में बंदी' थे। मगर बिल्कुल अंतिम दौर में एक और कारण पैदा हुआ था, जिसे कम-से-कम एक गंभीर, विदेशी भारतविद् विद्वान् ने मान्यता दी है। ऐसा विद्वान्, जिनकी सत्यनिष्ठा और विवेक असंदिग्ध है।

वह था गांधी का तथाकथित ब्रह्मचर्य-प्रयोग, जिसका एक सबसे विवादास्पद दौर दिसंबर १९४६ से मार्च १९४७ तक चला था। गांधी अपने बहुत दूर के रिश्ते की एक नाबालिग लड़की, सोलह-सत्रह वर्षीया मनु के साथ नंगे सोने का प्रयोग करते थे।[५] यह नोआखाली में तीन महीने तक चला, जिस पर बहुत विवाद हुआ।[६] गांधी के इस कार्य के विरोध में उनके पुत्र देवदास तथा निकटस्थ सहयोगियों में सरदार पटेल, किशोरलाल, नरहरि आदि ने गांधी से आंशिक या पूर्ण संबंध-विच्छेद तक कर लिया था। अखबार 'हरिजन' भी गांधी से संबंध-विच्छेद के कगार पर था। उस प्रसंग में गांधी का तीखा विरोध करनेवालों में ठक्कर बापा, विनोबा भावे, घनश्याम दास बिड़ला आदि भी थे। उसी प्रसंग में, सरदार पटेल ने कड़ाई से लिखा था कि 'मनु के साथ जिस व्यवहार को गांधी धर्म कह रहे हैं, वह वस्तुत: अधर्म है।'[७]

इसी मामले पर एक शोधकर्त्री राधा राजन ने अपनी पुस्तक 'एक्लिप्स ऑफ द हिंदू नेशन' (कोलकाता : न्यू एज पब्लिशर्स, २०११) में कहा है कि मनु-प्रसंग का विरोध करने के कारण भी गांधी ने पटेल को प्रधानमंत्री नहीं बनने दिया। हमारी राय में असंभव नहीं कि यह कारण रहा हो, क्योंकि अपने शोध के दौरान इस लेखक ने भी कई प्रसंगों में पाया है कि गांधी ऐसी क्षुद्रता से मुक्त नहीं थे। किसी बात पर उनका विरोध करनेवाले अत्यंत भक्त अनुयायियों को भी जली-कटी सुनाना, झिड़कना, कटूक्तियाँ सुनाना उनकी सामान्य आदत थी। विशेषकर यदि अनुयायी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक हैसियत में कमजोर हो।

इस मनु-प्रसंग में भी गांधी ने कई नेताओं और तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष जे.बी. कृपलानी को भी परोक्ष धमकी जैसी दी थी (जो स्वयं गांधी के 'कलेक्टेड वर्क्स,' खंड, ९३ में देखी जा सकती है)। कुछ इस तरह की सांकेतिक धमकी कि गांधी का विरोध करके वे उस नाजुक समय में कांग्रेस को कमजोर कर सकते हैं। इसलिए उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में उस मामले पर बोलना चाहिए। यानी गांधी के पक्ष में बोलना चाहिए, आदि। इसलिए यह बिल्कुल संभव है कि पटेल को किनारे कर नेहरू को प्रधानमंत्री

बनवाने में गांधी द्वारा मनु-प्रसंग में पटेल का कड़ा विरोध भी कारण रहा हो। इस लेखक ने प्रख्यात बेल्जियम विद्वान् कोएनराड एल्स्ट की राय भी जानने की कोशिश की, कि क्या राधा राजन का निष्कर्ष सही है ? उन्होंने इसकी पुष्टि की।

वैसे तो गांधी-जीवन के कई प्रसंग, गांधीजी के विविध विचार, कार्य आदि स्वयं प्रमाणित करते हैं कि राजनीतिक नेता और चिंतक, इन दोनों रूप में वे एक साधारण व्यक्ति थे, महापुरुष या महात्मा नहीं। इसलिए नव स्वतंत्र भारत का प्रथम प्रधानमंत्री, जिसे कई बातों में नई लीक बनाने का महती कार्य करना था—ऐसे पद पर सुयोग्य, निस्स्वार्थ सरदार पटेल को पीछे हटाकर हल्के किस्म के और कम्युनिस्ट नेहरू को पद पर बिठा देना, यह गांधीजी की वास्तविकता के अनुरूप ही था।

संदर्भ—

१. 'जवाहरलाल नेहरू एन ऑटोबायोग्राफी' (लंदन : द बॉडले हेड, १९५५), पृ १६७

२. उस बैठक में यदि गांधीजी न होते तो उसकी पुष्टि नहीं भी हो सकती थी। इसका अभ्यास नेहरूजी को था, इसलिए वह गांधीजी को व्यक्तिगत आग्रह करके ले गए कि वे किसी तरह उसे पास करवाएँ। गांधी उस मीटिंग में जाने से इनकार कर सकते थे। वे उस समिति के सदस्य भी नहीं थे। किंतु वह मात्र नेहरू के प्रेम में गए, यह उन्होंने उसी दिन अपने बेटे मनु गांधी को बताया, "....उसका (नेहरू का) दिल टूट जाएगा, अगर मैं अ.भा. कांग्रेस महासमिति की बैठक में नहीं गया। उसने मुझे अपने प्रेम का बंदी बना लिया है।" ['टॉक विथ मनु गांधी', १४ जून, १९४७, 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', खंड ८८, (अहमदाबाद: नवजीवन ट्रस्ट, १९८३), पृ. १५०, 'स्पीच एट ए.आई.सी.सी. मीटिंग', १४ जून, १९४७, वही, पृ. १५३-५७] यानी, देश के विभाजन जैसा युगांतरकारी निर्णय गांधी ने व्यक्तिगत राय के आधार पर किया।

३. उस प्रसंग के अधिक विवरण के लिए देखें, सीताराम गोयल, 'जेनेसिस एंड ग्रोथ ऑफ नेहरूइज्म,' वॉल्यूम १ ; 'कमिटमेंट टु कम्युनिज्म' (नई दिल्ली : वॉयस ऑफ इंडिया, १९९३), पृ. १९२-९६

४. कुछ उदाहरणों के लिए देखें, सीताराम गोयल, 'जेनेसिस एंड ग्रोथ ऑफ नेहरूइज्म,' वॉल्यूम १, 'कमिटमेंट टु कम्युनिज्म' (नई दिल्ली : वॉयस ऑफ इंडिया, १९९३), पृ. १८९-९३, १९६-९७

५. हमने संक्षेप में नेहरू के वक्तव्य को रखा है। विस्तार से उनके शब्दों में देखें, 'जवाहरलाल नेहरूज स्पीचेज,' १९४६-४९ (नई दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, १९५८), द्वितीय संस्करण, पृ. २११

६. उदाहरण के लिए देखें, संसद् में २२ मई, १९५२ को नेहरू का भाषण। 'जवाहरलाल नेहरूज स्पीचेज,' १९४९-५३ (नई दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, १९५७), द्वितीय संस्करण, पृ. २११; सीताराम गोयल द्वारा उद्धृत, 'जेनेसिस एंड ग्रोथ ऑफ नेहरूइज्म,' वॉल्यूम १, 'कमिटमेंट टु कम्युनिज्म' (नई दिल्ली : वॉयस ऑफ इंडिया, १९९३), पृ. ८५

७. गांधीजी के अपने शब्दों में, "मैं उसे अपने नजदीक सुलाता हूँ। वह नंगी होती है पर गहरी नींद सोती है। जब भी कोई काम पड़े, उसे जगाना पड़ता है, चाहे वह २ बजे हों या ३ बजे। मैं इसे

अच्छा लक्षण समझता हूँ कि वह ऐसे सोती है। मैं आगा खान महल वाले दिनों से जानता हूँ कि वह अपने बारे में पूरी अचेत है। मुख्य बात यह थी कि वह मेरे साथ रहे, मेरे संरक्षण में और तुमसे जुड़कर सीखे। वह हो रहा है।" देखें, 'लेटर टू प्यारेलाल', ३० दिसंबर, १९४६ 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी,' वॉल्यूम ९३, (नई दिल्ली, २००१), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१३

८. विस्तार से जानने के लिए यह पुस्तक देखें, शंकर शरण, 'गांधी के ब्रह्मचर्य प्रयोग' (नई दिल्ली : राजपाल एंड सन्स, २०१२)

९. 'लेटर टू जी.डी. बिरला', १५ फरवरी, १९४७ 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी,' वॉल्यूम ९३, (नई दिल्ली, २००१), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४०६

